

राज, समाज और शिक्षा

□ राजाराम भादू

“शिक्षा प्रणाली सड़क पर पड़ी हुई वह कुतिया है जिसे हर कोई एक लात जमा देता है।”

- ‘राग दरबारी’ (श्रीलाल शुक्ल) से

गत वर्ष मई (1998) में पोंकरण में हुए परमाणु-विस्फोट का जब देश भर में यशोगान किया जा रहा था, तभी राजस्थान में गांव के गरीब बच्चों के लिए प्रारंभिक शिक्षा मुहैया कराने वाली परियोजना ‘लोक जुम्बिश’ पर गर्दिश के बादल छाने शुरू हुए। स्वीडन की संस्था ‘सीडा’ ने लोक जुम्बिश परियोजना को वित्तीय मदद देना बंद कर दिया। फलतः यह शैक्षिक परियोजना गंभीर गतिरोध का शिकार हो गई। पिछले दिनों ब्रिटेन की एक वित्तीय संस्था के मदद के लिए आगे आने के बाद लगने लगा था कि परियोजना का संकट समाप्त हो जायेगा। लेकिन इसी दौरान राजस्थान की ‘कथित संवेदनशील, पारदर्शी और जबावदेह’ नयी सरकार के एक मंत्री ने इस परियोजना को लेकर जिस तरह के बयान दिये, उससे समूचे शिक्षा-जगत को हैरत होना स्वाभाविक है। फिलवक्त एक तरफ तो सरकार अखबारों में ऐसे बयान जारी कर रही है जैसे गतिरोध टल गया हो ताकि लोक जुम्बिश के पक्ष में बन रहे जनमत को गुमराह किया जा सके। दूसरी ओर, विधान सभा में दिया मंत्री का वक्तव्य जाहिर करता है कि सरकार के दृष्टिकोण में कोई फर्क नहीं आया। उक्त वक्तव्य में परियोजना के क्रियान्वयन एवं उसकी संकल्पना की जांच करने की घोषणा की गयी है। कुल मिलाकर संदेह और अनिश्चय के ऐसे वातावरण में लोक जुम्बिश का गतिरोध बरकरार है।

लोकजुम्बिश का प्रस्तुत प्रसंग शिक्षा-परिदृश्य में कई चिंतनीय मुद्दे प्रस्तुत करता है। सर्वोपरि तो राज, समाज और शिक्षा के संबंध का वही पुराना मुद्दा है जो हमारे देश में अभी तक ठीक से किसी मुकाम तक नहीं पहुंचा। राज सत्ता और समाज के रिश्ते का यहां जनतांत्रिकरण नहीं हो पाया - यह अभी तक कमोबेश औपनिवेशिक ही बना हुआ है और शिक्षा को इस रिश्ते की प्रकृति का बार-बार शिकार होना पड़ता है। राज सत्ता और समाज के संबंध का वास्तविक जनतांत्रिकरण हुए बिना शिक्षा के जनतांत्रिकरण का कार्यभार कैसे पूरा हो सकता है ?

शिक्षा के विकेन्द्रीकरण का सवाल लोकजुम्बिश प्रसंग से उपजा अहम् सवाल है। आज जब प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीनकरण को लेकर देश भर में वृहद् स्तर की परियोजनाएं चलायी जा रही हैं तो यह सवाल कहीं ज्यादा प्रासंगिक हो उठा है। हमें इन वृहद् परियोजनाओं की प्रकृति और इनके भविष्यतः परिणामों पर विचार करने की जरूरत है क्योंकि लोकजुम्बिश के संदर्भ में राज्य सरकार के मंत्री महोदय ने इन्हें आदर्श की तरह पेश किया था। उन्होंने लोक जुम्बिश परियोजना पर पुनर्विचार की एक वजह यह बतायी कि प्रदेश में प्रारंभिक शिक्षा को पूरी तरह ग्रामीण विकास और पंचायती राज के सुपुर्द कर दिया गया है। जबकि लोकजुम्बिश तो पहले से ही विकास खण्ड स्तर पर संचालित है जिसमें विकास अधिकारी आरंभ से सम्मिलित रहता है। मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में प्राथमिक शिक्षा की वृहद् परियोजनाएं पंचायती राज के मार्फत ही चल रही हैं। ऐसी स्थिति में, शिक्षा में विकेन्द्रीकरण के सच को समझने के लिए हमें शायद परिप्रेक्ष्य में जाने की जरूरत है।

आजाद भारत के पचास सालों में शिक्षा का ऐतिहासिक चरित्र क्या रहा है ? मूलतः समाज की विषमतामूलक संरचना ही शिक्षा-प्रणाली में प्रतिबिम्बित होती है। समाज का शक्ति-संपन्न तबका राज्य सत्ता पर काबिज रहा है और राज सत्ता शिक्षा प्रणाली को नियंत्रित करती है। सामान्यतः राजसत्ता वंचित वर्ग में शिक्षा की पहुंच को लेकर चिंता व्यक्त करती रहती है और शिक्षा के व्यापक प्रसार का

संकल्प व्यक्त करती है । लेकिन शिक्षा से सर्वाधिक लाभान्वित संपन्न वर्ग ही होता है । उच्च शैक्षिक संस्थाओं/संस्थानों तक उसी की पहुंच होती है । गरीब और वंचित तबके शिक्षा से आंशिक लाभ ही उठा पाते हैं । क्योंकि शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि वे या तो उसके दायरे से बाहर हो जाते हैं अथवा बाहर कर दिये जाते हैं । यही नहीं वे स्वयं को अक्षम और हीनतर स्वीकार कर लेते हैं । तमाम अवरोधों को पार करके जो लोग 'सफलता' अर्जित कर लेते हैं उन्हें तंत्र द्वारा अपना लिया जाता है और वे वहां 'खप' जाते हैं । वे एक प्रकार से इस प्रणाली को वैधता भी प्रदान करते हैं और व्यापक असंतोष को नहीं पनपने देते । लेकिन शिक्षा अपनी मूल प्रकृति में एक मुक्ति-दायिनी शक्ति भी है । शिक्षा-प्रक्रिया के एक बार संपर्क में आने के बाद व्यक्ति पहले जैसा नहीं रहता । जो लोग थोड़े-बहुत शिक्षित हो जाते हैं, वे पूरी समाज व्यवस्था को सवालिया निगाहों से देखने लगते हैं । इसलिए शिक्षा का अधिक प्रसार सामाजिक असंतोष को और बढ़ाता है । कुछ शिक्षित लोग इस असंतोष को संगठित करने लगते हैं और तब समाज की विषम संरचना तथा राज सत्ता के समक्ष चुनौती खड़ी हो जाती है । ऐसे में, सत्ता यथास्थिति कायम रखने के लिए पुनः शिक्षा-प्रणाली में हस्तक्षेप करती है ।

पुरातनकाल से ही भारतीय समाज में शिक्षा सवर्णों विशेषकर 'द्विजों' तक सीमित रही और स्त्रियों तथा अवर्णों का बहुसंख्यक समाज सदियों तक इससे वंचित रहा । वर्ण-व्यवस्था आधारित समाज ने शिक्षा की इस गैर बराबरी की वैधता के अनेक तरीके निकाल लिये और 2500 वर्षों के इतिहास में तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद यह स्थिति 19वीं सदी के आरंभ तक बरकरार रही ।

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों ने अपना स्थानीय सहायक तंत्र खड़ा करने के लिए आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव रखी, जिसका मंतव्य टामस मैकाले ने 1936 में साफतौर पर व्यक्त किया था : "हम ज्ञान प्राप्त देशी लोगों का एक विशाल वर्ग बनाने की कोशिश कर रहे हैं ।" लेकिन कालान्तर में हम देखते हैं कि इस 'ज्ञान प्राप्त देशी वर्ग' में से ऐसे लोग निकलने लगे जो औपनिवेशिक प्रतिरोध के सुर में सुर मिलाने लगे । फलतः अंग्रेज शिक्षा-प्रणाली को लगातार इस तरह बदलते रहे कि उसमें ब्रिटिश 'श्रेष्ठता' प्रतिपादित होती रहे । यही मुख्य वजह थी कि स्वातंत्र्य आन्दोलन के उभार के साथ ही आधुनिक शिक्षा के देशज स्वरूप का विचार जन्मा, जो निरंतर विकसित होता गया । इसी के मद्देनजर महात्मा गांधी ने देश के विद्यार्थियों को स्कूल-कॉलेज छोड़ने का आहवान किया था और स्थापित औपचारिक शिक्षा प्रणाली के विपरीत राष्ट्रीय शिक्षा और बुनियादी शिक्षा जैसे विकल्प प्रस्तुत किये थे ।

लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में क्या हुआ ? ब्रिटिश हुकूमत के दौरान जो कांग्रेसी नेता यह मानते थे कि शिक्षा में राजनैतिक हस्तक्षेप कम से कम हो, उन्होंने सत्ता में आने के बाद क्या किया ? सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने की मांग सर्वप्रथम गोपालकृष्ण गोखले ने उठायी थी और तदन्तर इस मांग को जो सर्वसम्मति मिली, उसी के चलते यह संवैधानिक संकल्प का रूप ले सकी । सत्ता में आयी कांग्रेस ने इस संकल्प को टाल दिया जो अभी तक टलता आ रहा है । कांग्रेस ने शिक्षा -प्रणाली को लेकर छात्रों, अध्यापकों और अभिभावकों के असंतोष को 'शिक्षा में दखल' कहकर नकारा, दूसरी ओर समूची प्रणाली को अपने अनुकूल तोड़ने-मरोड़ने के लिए उसमें हर स्तर पर दखल दिया । 1966 में कोठारी आयोग के जरिये गांधीजी के बुनियादी शिक्षा सिद्धांत को सदैव के लिए त्यागकर औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली का पुनरुत्थान किया गया । ऐसा नहीं कि गैर-कांग्रेस सरकारों का शैक्षिक दृष्टिकोण कुछ भिन्न रहा हो, बल्कि उन्होंने भी शिक्षा प्रणाली से अपने हित साधने में कोई कसर बाकी नहीं रखी । आजादी के बाद एक ओर यदि केन्द्रीय विद्यालय तंत्र और नवोदय स्कूल अस्तित्व में आये तो शिक्षा के सामंती घरानों-नोबल और पब्लिक स्कूलों का आधुनिकीकरण हुआ । शिक्षा में प्रणालीगत विषमता निरंतर फलती - फूलती रही ।

लेकिन हम देखते हैं कि दलितों और स्त्रियों की शिक्षा के मामले में वंचित स्थिति पर राज सत्ता लगातार चिंता जताती रही है और प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से लेकर प्रान्तीय स्तर तक संकल्पों की घोषणाएं करती रही है । जबकि प्राथमिक शिक्षा की जमीनी हकीकत कहती है कि वस्तुतः राजसत्ता की ऐसी कोई इच्छा नहीं होती । शिक्षा तंत्र स्थानीय परिवेश और संस्कृति की अनदेखी करता है और सर्वत्र यांत्रिक एकरूपता थोपने की कोशिश करता है । सैद्धांतिक तौर पर शिक्षा के विकेन्द्रीकरण को स्वीकार करने वाला शासन तंत्र जन-सहभागिता हासिल करने में विफल रहा है और व्यवहार में केन्द्रीकरण से कतई विलग नहीं हुआ । सत्ता शिक्षा प्रणाली पर न केवल अपनी मजबूत पकड़ बनाये रखती है बल्कि शिक्षा की विषयवस्तु को अपने फायदे के मुताबिक बदलती रहती है । वह पुरानी योजनाओं-कार्यक्रमों को निरस्त कर देती है और कई बार तो खुद अपने कार्यक्रमों की निंदा करती है और किसी आकर्षक और महत्वाकांक्षी दिखने वाली नयी योजना की घोषणा कर देती है । यह लोगों में भ्रम बनाये रखने के लिए केंचुल बदलने जैसा मामला है ।

अब एक बार फिर लोक जुम्बिश पर आये । लोकजुम्बिश परिषद् राज्य सरकार से स्वतंत्र नहीं बल्कि उसी की एक स्वायत्त इकाई है । अपनी सीमाओं और कमजोरियों के बावजूद यह देश की ऐसी अकेली योजना है जिसने गरीब बच्चों, खासकर बालिकाओं की शिक्षा के क्षेत्र में विशेष उपलब्धि अर्जित की है और इस मामले में गुणवत्ता को लेकर कोई समझौता नहीं किया । परियोजना के पीछे स्पष्ट सोच रहा है और योजना एवं क्रियान्वयन के हर स्तर पर लोगों की भागीदारी सुनिश्चित की गई है । इस समस्त प्रक्रिया में राज्य सरकार भी शामिल रही है । यहां शीर्ष से प्राथमिक शिक्षा का कोई तयशुदा केन्द्रीकृत और एकरूप ढांचा जमीनी स्तर पर थोपा नहीं गया बल्कि जमीनी हकीकत के अनुरूप चीजों को खुद अपनी शकल अख्तियार करने के अवसर दिये गये हैं । और भी कई कारणों से लोक जुम्बिश परियोजना देश-विदेश के शिक्षाविदों का ध्यान खींचती रही है । इसके बावजूद जब राज्य सरकार के एक जिम्मेदार मंत्री द्वारा लोक जुम्बिश परिषद् को संदेह के धरे में लाया गया तो परिषद् के चेयरमैन अनिल बोर्दिया का खिन्न होना स्वाभाविक है । इस संदर्भ में प्रो. कृष्णकुमार की पुस्तक 'राज, समाज और शिक्षा में वर्णित एक प्रसंग याद आता है जो इस प्रकार है : "लंबे समय तक सरकारी ढांचे के भीतर सत्त प्रयत्नशील रहने वाले जे.पी. नाइक अपने अंतिम महीनों में उदास रहते और अक्सर इस प्रश्न पर टिप्पणी करते थे कि शिक्षा में सुधार लाने के उनके प्रयासों को राजनैतिक मदद क्यों नहीं मिली । उनका कहना था कि शिक्षा की भावी योजना बनाने के लिए इनसान की कोई आदर्श छवि लेकर चलना काफी नहीं है । हमारे मन में एक सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिए- एक ऐसी व्यवस्था जिसमें हम आज दिखाई देने वाले अन्याय और उत्पीडन को दूर कर सकें । "... मैं यह नहीं मानता कि निर्णय राजनीतिज्ञों की इच्छा पर निर्भर होते हैं । मेरी राय में प्रश्न यह है कि सत्ता में बैठे लोग किनके हितों की सेवा कर रहे हैं ? भविष्य की शिक्षा योजना तीन बातों को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिए : पहली, मनुष्य की छवि (यानी हम कैसा आदमी बनाना चाहते हैं ?) दूसरी, जीवन की शैली; और तीसरी यह कि हम कैसी समाज-व्यवस्था को ठीक मानते हैं । समाज-व्यवस्था और शिक्षा को बदलने के लिए जैसा दबाव चाहिए, वह केवल जन-जागरण और जन-आन्दोलन से पैदा किया जा सकता है ।"

जे.पी. नाइक तो हमारे बीच नहीं रहे । लेकिन सरकारी ढांचे के भीतर आदिवासियों के उत्थान के लिए सत्त प्रयत्नशील रहने वाले डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा जिनका सत्ता के दोहरे चरित्र को समझने के बाद उससे मोहभंग हो गया, ने वही रास्ता अख्तियार किया जैसा जे.पी. नाइक ने सुझाया था । शिक्षा में उस तरह के जन-आन्दोलन को लेकर अभी तो गहरा शून्य विद्यमान है । ♦